Research Inspiration
An International Multidisciplinary e-Journal
(Peer - reviewed, Open Accessed & Indexed)
Web: www.researchinspiration.com; Email: publish1257@gmail.com
ISSN: 2455-443X
Vol. 4, Issue-I
Dec. 2018
e-ISJN: A4372-3069
Impact Factor : 6.331 (SJIF)
Vol.4, Issue-I, Dec. 2018

# भारतीय परम्परा में भक्ति आन्दोलन की सामाजिक विसंगतियाँ

**डॉ. विश्वनाथ वर्मा**
प्राचीन इतिहास विभाग
हरिश्चंद्र स्नातकोत्तर महाविद्यालय, वाराणसी

## सारांशिका

*किसी राष्ट्र की संस्कृति अपने धर्म, दर्शन, कला एवं मानसिक चिन्तन के स्वरूप को व्यक्त करती है। मानव जिस रूप में अपने धर्म का विकास करता है, दर्शनशास्त्र के रूप में चिन्तन करता है, साहित्य एवं कला का जिस प्रकार सृजन करता है और अपने समष्टिगत जीवन को अधिक सुखमय बनाने के लिए शासन–प्रबन्ध और आर्थिक स्थिति को विकसित करता है, उन सब का समावेश संस्कृति में होता है। भारतीय संस्कृति धर्म– प्रधान है। धर्म भारतीय संस्कृति का मूलाधार है। धर्म शब्द से एक ओर जहाँ दैनन्दिन जीवन के उपयोगी कर्त्तव्यों को ग्रहण किया जाता है, वहीं दूसरी ओर धर्म शब्द विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों एवं सिद्धान्तों का भी सूचक है। भारतीय धर्म की विभिन्न धारायें भारत के सांस्कृतिक निर्माण में योगदान करती रहीं हैं। भारत में जो सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से सबसे ज्यादा पिछड़े हुए हैं, उन लोगों के धार्मिक अनुष्ठानों से यह मालूम होता है कि लोगों के खास–खास समूह उत्पादन करने वाले उच्चतर समाज में कैसे प्रवेश पा गए। सामान्यतः यह बात समाज के ऊँची श्रेणी के समूहों पर भी लागू होती है। जाति और धर्म से युक्त, आदिम अनुष्ठानों के बचे हुए अंश खास–खास समूह को संगठित रखे हुए है। उनसे उस समूह के बारे में भी जानकारी होती है जो दूसरे समूहों की तुलना में अधिक मिश्रित और संगठित हैं। आर्थिक स्थिति बदलने से जाति ही नहीं, कभी–कभी संप्रदाय तक बदल गए हैं। हिन्दू परम्परा के चारों पुरुषार्थ जीवन के विभिन्न अर्थों में बहुआयामी सिद्धियों के सूचक भी हैं। धर्मरूपी पुरुषार्थ को साधने का अभिप्राय है कि हम लोकाचार में पारंगत हो चुके हैं। संसार में रहकर क्या करना चाहिए और क्या नहीं, इस सत्य को जान चुके हैं और यह ज्ञान हो जाना कि समस्त चराचर सृष्टि, भाँति–भाँति के जीव, वन–वनस्पति एक ही परमचेतना से उपजे है।*

---

भारतीय परम्परा में जीवन के चार पुरुषार्थ (चतुर्वर्ग)– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष माने गए हैं जो जीवन के मूल तत्त्व या पदार्थ भी हैं, और जिन्हें प्राप्त कर लेना मानव जीवन की वास्तविक उपलब्धि मानी जाती है। इन्हीं पुरुषार्थों से ही मानव बौद्धिक, नैतिक, शारीरिक, भौतिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष करता है।[1] मोक्ष का सीधा–सीधा अर्थ है मुक्ति, अर्थात् संसार के आवागमन से मुक्त हो जाना। सामान्यतः इसका अर्थ उस स्थिति से लिया जाता है जब आत्मा परमात्मा में मिलकर उसका अभिन्न–अटूट हिस्सा बन जाती है। दोनों के बीच का सारा द्वैत विलीन हो

[1] जय शंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृष्ठ 254।

जाता है। यह जल में कुम्भ और कुम्भ में जल की–सी स्थिति है। वेदान्त की भाषा में उस पंचमहाभूत से बने घट (देह) के मिटते ही उसमें मौजूद सारा जल सागर के जल में समा जाता है[2], सागर में मिलकर उसी का रूप धारण कर लेता है और यही मोक्ष है। इसका एक अर्थ सम्पूर्णता भी है, मानव को जब लगने लगे कि जो भी उसका अभीष्ट था वह उसको प्राप्त हो चुका है। उसकी दृष्टि नीर–क्षीर का भेद करने में प्रवीण हो चुकी है, जिसके फलस्वरूप वह इस संसार की निस्सारता को, उसके मायावी आवरण को जान चुका है। साथ ही वह इस संसार के मूल और उसके पीछे निहित परमसत्ता को भी पहचानने लगा है। उसे इतना आत्मसात् कर लेता है कि उससे विलगाव पूर्णतः असम्भव है। यही मोक्ष की अवस्था है। फिर उसको जन्म–मरण के चक्र से गुजरना नहीं पड़ता।

मोक्ष को जैन दर्शन में 'कैवल्य' कहा गया है; कैवल्य, अर्थात् अपनेपन की समस्त अनुभूतियों का त्यागकर 'केवल वही' का बोध रह जाना। इसी स्थिति को बौद्ध दर्शन में 'निर्वाण' की संज्ञा दी गई है, जिसका शाब्दिक अर्थ है 'बुझा हुआ'। व्यक्ति जब इस संसार को जान लेता है, जब वह संसार में रहकर भी संसार से परे रहने की, कीचड़ में कमल जैसी निर्लिप्तता प्राप्त कर लेता है, तब मान लिया जाता है कि वह इस संसार को जीत चुका है। इच्छा–आकांक्षाओं और भौतिक प्रलोभनों से सम्यक् मुक्ति ही निर्वाण है। गीता में इस स्थिति को कर्म, अकर्म और विकर्म के त्रिकोण के द्वारा समझाने का प्रयास किया गया है।[3] उसके अनुसार संसार में सभी व्यक्तियों के लिए कुछ न कुछ कर्म निर्दिष्ट हैं। जब तक यह मानव शरीर है, कर्तव्य से मुक्ति असम्भव है। जब तक प्राण शरीर में है, देह का धर्म निभाना ही पड़ता है।[4] तब मुक्ति का क्या अभिप्राय है? बुद्ध कहते हैं कि शरीर में रहकर भी शरीर से परे होना सम्भव है। यद्यपि उसके लिए लम्बी साधना और नैतिक आचरण की आवश्यकता पड़ती है।

मोक्ष और निर्वाण दोनों ही अवस्थाओं में जीव जन्म–मरण के चक्र से छुटकारा पा लेता है। किन्तु मोक्ष मृत्यु के पार की अवस्था है जबकि निर्वाण के लिए जीवन का अन्त अनिवार्य नहीं। गौतम बुद्ध और महावीर ने संदेह अवस्था में क्रमशः निर्वाण व कैवल्य प्राप्त किया था। किन्तु सभी तो उनके जैसे तपस्वी–साधक नहीं हो सकते। इसलिए साधारणजनों के लिए सभी धर्म–दर्शनों में एक मन्त्र दिया गया है– अनासक्ति। संसार में रहकर भी संसारिकता से मुक्ति, धन–सम्पत्ति की लालसा, सम्बन्धों और मोहमाया के बन्धनों से परे हो जाना, अपने–पराये के अन्तर से छुट्टी पा लेना, जो भी अपने पास है उसको परमात्मा की अनुकम्पा की तरह स्वीकार करना और अपनी हर उपलब्धि को ईश्वर के नाम करते जाना, यही मुक्ति तक पहुँचने का सहजमार्ग है, यही सहजयोग है। इस अवस्था में कामनाओं का समाजीकरण हो जाता है। इसमें व्यक्ति का कुछ भी अपना नहीं रहता, वह परहित को अपना हित, जनकल्याण में निज–कल्याण की प्रतीति करने लगता है। दूसरे शब्दों में, मुक्ति का एक अर्थ निष्काम हो जाना भी है।

निष्काम होने का अभिप्राय निष्कर्म होना अथवा कर्म से पलायन नहीं है। अकर्मण्यता निष्काम्यता का पर्याय नहीं है। यदि मन मोहमाया से ग्रस्त है तो कर्म–संन्यास से भी निष्काम्यता सम्भव नहीं है। इस समस्या का समाधान

---

[2] 'ब्रह्मविद् बह्मैत भवति।' मुण्डकोपनिषद्, 3.2.9।

[3] 'कर्मण्यकर्म यः पष्येदकर्मणि च च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत।।' श्रीमद्भगवद्गीता, 4.17।

[4] श्रीमद्भगवद्गीता, 3.8।

करते हुए गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्म करो, मगर फल की इच्छा का त्याग कर दो।[5] निष्काम कर्म यानी कर्म करते हुए कर्म का बोध न होने देना, यह प्रतीति बनाए रखना कि 'मैं तो निमित्तमात्र हूँ, कर्ता तो कोई और है' भावना के साथ सारे कर्म, समस्त कर्मफलों को ईश्वर–निर्मित मानकर उसी को समर्पित करते चले जाना ही कर्मयोग है।[6] कर्म करते हुए फल की इच्छा का त्याग ही विकर्म है, और यह प्रतीति कि मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ, जो हुआ परमात्मा के इशारे पर उसी के निमित्त हुआ, यह धारणा कर्म को अकर्म की ऊँचाई तक पहुँचा देती है। संसार से भागकर कर्म से पलायन करने की अपेक्षा संसार में रहते हुए कर्मयोग को साधना कठिन है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्म–संन्यास कर्मयोग की अपेक्षा श्रेष्ठ हो सकता है, तो भी कर्मयोगी होना कर्म–संन्यासी की अपेक्षा विशिष्ट और उससे बढ़कर है।[7]

कर्मयोगी होना कठिन है। सांसारिक प्रलोभनों से दूर होने के लिए उससे भाग जाना कर्म–संन्यास में सम्भव है, मगर कर्मयोगी को तो संसार में रहते हुए ही उसके प्रलोभनों से निस्तार पाना होता है। ऐसे कर्मयोग को साधने के लिए विभिन्न धर्मदर्शनों में अलग–अलग विधान हैं, यद्यपि उनका मूलस्वर प्रायः एक जैसा है। ऋषि–मुनि इसके लिए तत्व–चिन्तन में लगे रहते है और मानव–व्यवहार को नियन्त्रित तथा मर्यादित रखने के लिए नूतन विधान गढ़ते रहते हैं। प्राचीन भारतीय मनीषियों द्वारा चार पुरुषार्थों की अभिकल्पना भी इसी के निमित्त की गई है।

हिन्दू परम्परा के चारों पुरुषार्थ जीवन के विभिन्न अर्थों में बहुआयामी सिद्धियों के सूचक भी हैं। धर्मरूपी पुरुषार्थ को साधने का अभिप्राय है कि हम लोकाचार में पारंगत हो चुके हैं। संसार में रहकर क्या करना चाहिए और क्या नहीं, इस सत्य को जान चुके हैं और यह ज्ञान हो जाना कि समस्त चराचर सृष्टि, भाँति–भाँति के जीव, वन–वनस्पति एक ही परमचेतना से उपजे हैं।[8] मनुस्मृति में कहा गया है कि अच्छे विद्वान् लोग जो आचरण करते हैं, सेवित करते हैं, उनके द्वारा जो आचरित होता है, वही धर्म है।[9] धर्म की इस परिभाषा में न तो आत्मा है, न ही परमात्मा। दूसरे शब्दों में, धर्म नैतिकता और सदाचरण का पर्याय है। वस्तुतः धर्म उन जीवनमूल्यों में आस्था और उनका अभिधारण है, जिनके अभाव में यह समाज चल ही नहीं सकता और जिनकी उपस्थिति उसके स्थायित्व के लिए अनिवार्य है। विभिन्न समाजों की आध्यात्मिक मान्यताओं, उनकी पूजा पद्धतियों में अन्तर हो सकता है, मगर उनके जीवनमूल्य प्रायः एकसमान और अपरिवर्तनीय होते हैं। जब हम धर्म की बात करते हैं और यह मान लेते हैं कि हमें संसार में रहकर अध्यात्म को साधना है तो मामला नैतिकता पर आकर टिक जाता है। नैतिकता बड़ी ऊँची चीज है। यह कर्मयोगी को राह दिखाती है, कर्म–संन्यासी का पथ–प्रशस्त करती है। इस प्रकार नैतिक होना मनसा, वाचा कर्मणा पवित्र होना भी है।

---

[5] 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेर्तुभूर्मा ते संङ्गोऽस्तत्वकर्मणि।।' श्रीमद्भगवद्गीता, 2.47।

[6] श्रीमद्भगवद्गीता, 2.48।

[7] संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।। श्रीमद्भगवद्गीता, 5.2।

[8] 'आचारः लक्षणो धर्मः सन्तष्चारित्रलक्षणः।
साधूनां च यथा वृत्तमेतदाचारलक्षणम्।' महाभारत, अनुशासनपर्व, 54.9।

[9] 'आचारः परमो धर्मः।' मनुस्मृति, 1.108।

जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरे पुरुषार्थ है 'अर्थ' की महत्ता निर्विवाद है।[10] यह सामाजिक प्रतिष्ठा का मूल तथा धर्म और काम का आधार है।[11] किन्तु अर्थ को पुरुषार्थ मान लेने का अर्थ यह कतई नहीं है कि किसी भी तरीके से अर्जित किया गया धन पुरुषार्थ है, या धन है तो उसका हर उपयोग सामाजिक–धार्मिक दृष्टि से मान्य है।[12] मनुष्यता के उत्थान के लिए साध्य और साधन दोनों की पवित्रता जरूरी है। धन के पुरुषार्थ मानने का अभिप्राय उससे जुड़े समूचे व्यवहार के मानवीकरण से है। अस्तेय और अपरिग्रह जैसी शास्त्रीय व्यवस्थाएँ धर्नाजन और उससे जुड़े प्रत्येक व्यवहार को मानवीय बनाए रखने के लिए ही की गई हैं। धन उतना ही होना चाहिए जितना कि गृहस्थ जीवन को सुगम बनाए रखने के लिए आवश्यक है। कबीर ने धनार्जन को लेकर बहुत अर्थपूर्ण बात कही है– 'साधु इतना दीजिए जामे कुटुम्ब समाय, मैं भी भूखा न रहूँ, साधू न भूखा जाए।।'[13] दूसरे शब्दों में, सिर्फ लोकमान्य विधि से अर्जित धन को लोकमान्य तरीकों से खर्च करने में ही में पुरुषार्थ–सिद्धि सम्भव है। धन का अपव्यय आलोचना का विषय है इसलिए उसे व्यय करने के लिए समझदारी की जरूरत होती है।[14]

हिन्दू–परम्परा का तीसरा पुरुषार्थ 'काम' संसार को गतिमान बनाए रखने के लिए अत्यावश्यक है। इससे सन्ततिचक्र आगे बढ़ता है। इसके लिए भी धार्मिक व्यवस्थाएँ हैं। मुक्त, उच्श्रृंखल काम–सम्बन्ध समाज–व्यवस्था को न केवल धराशायी कर सकते हैं, बल्कि उसमें इतना विक्षोभ पैदा कर सकते हैं कि यह व्यवस्था ही छिन्न–भिन्न हो जाए। काम को नियमित–नियन्त्रित करने के लिए ही विभिन्न सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था हुई है, उनके लिए मर्यादाएँ निश्चित की गई हैं। वैवाहिक संस्था के गठन का प्रमुख उद्देश्य काम–सम्बन्धों को सामाजिक मर्यादा के दायरे में लाना ही है। निर्धारित कसौटियों पर खरे उतरने वाले काम–सम्बन्ध ही तीसरे पुरुषार्थ के रूप में मान्य कहे जा सकते हैं। प्रथम तीनों पुरुषार्थों की सिद्धि के साथ मनुष्य जब धर्म को अपना आचरण बना लेता है, सदाचार और सद्व्यवहार उसके जीवन का अंग बन जाते हैं, 'अर्थ' और 'काम' के बीच जब वह सन्तुलन कायम कर चुका होता है, तब वह साधारण लोगों के स्तर से बहुत ऊपर उठ जाता है, इसी को परमात्मा के करीब पहुँच जाना कहते हैं। यही मोक्ष की अवस्था है, जहाँ सिर्फ पवित्रता ही पवित्रता है।

हिन्दू धर्म के चारों पुरुषार्थ मानव जीवन को मर्यादित करते हैं। किन्तु यह जनसामान्य की अकुलाहटाहट का परिणाम कहें अथवा उसकी अपने आराध्य के प्रति समर्पण की तीव्र अभिलाषा, या फिर अलभ्य को पा लेने की सहज–स्वाभाविक लालसा, जिसके कारण वह मात्र नियन्त्रित जीवनचर्या यानी पुरुषार्थ–चतुर्वर्ग पर निर्भर नहीं रहना चाहता। मोक्ष की कामना उसको वैकल्पिक रास्तों तक ले ही जाती है।

धर्मशास्त्रों में मुक्ति यानी परमात्मा को पाने के जो दो प्रमुखमार्ग बताए गए हैं, उनमें पहला ज्ञानमार्ग है और दूसरा कर्ममार्ग। शास्त्रकारों के अनुसार मनुष्य अपने त्याग और निष्काम्यता के साथ सामाजिक और धार्मिक कर्मों का निष्ठापूर्वक सम्पादन करने के पश्चात् मोक्ष की ओर प्रवृत्त होता है।[15] ज्ञानमार्गी के अनुसार ईश्वर द्वारा दी गई इन्द्रियाँ और मस्तिष्क उस तक पहुँचने का सर्वोत्तम माध्यम हैं। परमात्मा को जान लेना ही उसको प्राप्त कर लेना

[10] महाभारत, उद्योगपर्व, 72.23–24।
[11] अर्थशास्त्र, 1.70.10.11।
[12] आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2.8.20।
[13] साखी, कबीरदास, 89।
[14] मनुस्मृति, 4.176।
[15] द्रष्टब्य– श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय, 2 व 3।

है। ज्ञानमार्गी इसी विश्वास के साथ चिन्तन–मनन में डूबे रहते थे। उनकी ज्ञानसाधना के सुफल के रूप में अनेक दर्शनों का जन्म हुआ। वेद, उपनिषद् आदि महान् ग्रन्थों की रचना हुई। शांकर अद्वैतवाद में मुक्ति के प्रत्यक्ष साधन के रूप में 'ज्ञान' को ग्रहण किया गया है। शंकरचार्य के अनुसार भक्ति आत्म–साक्षात्कार नहीं करा सकती, वह केवल आत्म साक्षात्कार के लिए उचित भूमिका का निर्माण कर सकती है।

भक्ति आन्दोलन के सन्तों ने अपना चरम लक्ष्य आत्म–साक्षात्कार या भगवद्–दर्शन माना है तथा भक्ति के ग्रहण को अपरिहार्य रूप में स्वीकार किया है क्योंकि सन्तों की दृष्टि में भक्ति ही आत्म–साक्षात्कार या भगवद्दर्शन कराती है। शाब्दिक दृष्टि से देखें तो भक्ति शब्द 'भज्' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने से बना है, जिसका अर्थ है– बाँटना, भजना, स्मरण–अर्चन करना आदि। यह ईश्वर के प्रति मनुष्य की गहन अनुरक्ति का सुफल है, उसके कार्यों में सहज हिस्सेदारी है। भक्ति धर्म का प्राणतत्व, उसकी रसात्मक अभिव्यक्ति है। भक्ति–परम्परा में विश्वास रखने वाले मानते हैं कि परमात्मा अनादि–अनन्त और परमकृपालु है। सीमित इन्द्रियों के माध्यम से उसको प्राप्त करना असम्भव है। आत्मा उसी का अंश है, लेकिन वह इस संसाररूपी माया के फेर में फँसकर अपनी पहचान भूल चुकी है। परमात्मा अपनी सृष्टि के उद्धार के लिए समय–समय पर अवतार लेता है। उसको पाने का एकमात्र उपाय है, खुद को अपने ईष्ट, अपने आराध्यदेव के समक्ष पूरी तरह समर्पित कर देना; अपनी हार–जीत, अपने सम्पूर्ण सपने, समस्त आशा–आकांक्षाएँ उसपर न्योछावर कर देना। भक्ति की पराकाष्ठा में भक्त अपने आराध्यदेव के सिवाय कुछ भी याद नहीं रखना चाहता। अपने चारों और यहाँ तक भी अपने भीतर ही वह अपने आराध्य के दर्शन करता है; और जब भक्त अपने आराध्य से एकाकार हो जाता है, उसकी भक्ति में एकनिष्ट होकर पूरे संसार को बिसरा देता है तो फिर मुक्ति का लक्ष्य उसके लिए सहज–सुलभ हो जाता है। ऐसे भक्त–शिरोमणि के लिए कर्म और अकर्म का भेद मिट जाता है। उसका हर कर्तव्य धर्मसम्मत् होता है। अपने आराध्य के संसर्ग में वह जो प्राप्त करता है, वह बड़े–बड़े साधु–सन्त, ज्ञानी–ध्यानी को भी उपलब्ध नहीं हो पाता। इसलिए अथाह प्रेम और समर्पण द्वारा आराध्य को पा चुके भक्त के आगे बड़े–बड़े ज्ञानी भी नतमस्तक होते हैं। ऐसे भक्त शिरोमणि के आगे सारे ज्ञान, सारी सिद्धियाँ, सारे प्रलोभन छोटे पड़ जाते हैं। दुनिया की बड़ी से बड़ी शक्ति उसकी ऋद्धा और आस्था के आगे नतमस्तक हो जाती है।

भक्ति की पहली हवा लगभग बारहवीं शताब्दी में बही थी। एकदम नए उद्गम स्थल से। उस वर्ग की ओर से जो अभी तक धार्मिक–आर्थिक–सामाजिक शोषण का शिकार रहा था। उसके उद्गाता सन्तकवियों में से अधिकांश या तो शूद्र थे, अथवा उससे भी नीचे के अन्त्यज। इसके अलावा मुसलमानों के इस देश में बस जाने पर एक ऐसे भक्तिमार्ग की आवश्यकता थी जो हिन्दू और मुसलमान दोनों को ग्राह्य हो। वस्तुतः यह कर्मकाण्ड के नाम पर रूढ़ियाँ और ज्ञान के नाम पर कोरा वितण्डावाद रच रहे धार्मिक पाखण्डियों के विरुद्ध जनसाधारण का सशक्त सामाजिक–सांस्कृतिक विद्रोह था। वेदान्त दर्शन से प्रभावित सन्त कवियों ने 'निर्गुण' आराध्य की परिकल्पना की, और एक निर्मल–निराकार–निर्विकल्प–अनादि और अनन्त परमात्मा की भक्ति में खुद को तल्लीन कर दिया। इनमें सभी जातिवर्ग के लोग सम्मिलित थे। मगर बड़ी संख्या उन लोगों की थी, जो उन दिनों तक रूढ़ हो चुके धार्मिक–सामाजिक शोषण के शिकार थे। वर्णव्यवस्था के इतिहास में यह पहला अवसर था, जब शूद्रों ने अपने ही सन्त–महात्मा पैदा किए तथा अपने से कथित ऊँचे वर्ग के शासकों और विचारकों के लिए खुली चुनौती प्रस्तुत की।

महाराष्ट्र के सन्त नामदेव ने 14वीं शताब्दी में इसी प्रकार के भक्तिमत का सामान्य जनता में प्रचार किया जिसमें भगवान् के सगुण और निर्गुण दोनों रूप गृहीत थे। कबीर के सन्तमत के ये पूर्वपुरुष हैं। दूसरी ओर सूफी कवियों ने हिन्दुओं की लोककथाओं का आधार लेकर ईश्वर के प्रेममय रूप का प्रचार किया। कबीर ने मनुष्य की क्षमता का उद्घोष कर उन्होंने निम्नश्रेणी की जनता में आत्मगौरव का भाव जगाया। उन्होंने न केवल धर्म के नाम पर थोपे जा रहे कर्मकाण्डों को चुनौती दी, बल्कि वर्गभेद की तीखी आलोचना करते हुए एक समरस समाज की स्थापना के लिए गीत भी लिखे।

भक्ति आन्दोलन का उद्भव इतिहास के उस दौर की घटना है, जब भारत पर विदेशी सत्ता स्थापित हो रही थी। छोटे–छोटे राज्यों में बंट चुका यह देश अपनी स्वतन्त्र राजनीतिक–सांस्कृतिक पहचान की सुरक्षा के लिए जूझ रहा था। भारत की ज्ञानमार्गी परम्परा निरर्थक बहसों तथा कर्मकाण्डों में फंसकर वह धार खो चुकी थी, जिसने उससे पाँच–छह सौ वर्ष पहले तक भारतीय अध्यात्म–चेतना को पूरी दुनिया में प्रतिष्ठित करने का काम किया था।

वस्तुतः तेरहवीं सदी तक धर्म के क्षेत्र में बड़ी अस्तव्यस्तता आ गई। जनता में सिद्धों और योगियों आदि द्वारा प्रचलित अन्धविश्वास फैल रहे थे, शास्त्रज्ञानसम्पन्न वर्ग में भी रूढ़ियों और आडम्बर की प्रधानता हो चली थी। मायावाद के प्रभाव से लोकविमुखता और निष्क्रियता के भाव समाज में पनपने लगे थे। ऐसे समय में भक्ति आन्दोलन के रूप में ऐसा भारतव्यापी विशाल सांस्कृतिक आन्दोलन उठा जिसने समाज में उत्कर्षविधायक सामाजिक और वैयक्तिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की।

दक्षिण भारत और महाराष्ट्र से होती हुई भक्ति की यह परम्परा उत्तर भारत में पहुँची, जहाँ कबीर, रैदास[16] आदि ने धर्म के नाम पर आडम्बर फैलाने वालों को सीधे चुनौती दी। इसके लिए यथास्थितिवादियों ने उनपर जमकर हमले किए। उन्हें तरह–तरह की प्रताड़नाएं दी गईं। बारहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र में जन्मे सन्त ज्ञानेश्वर[17] को भी आडम्बरवाद का सामना करना पड़ा था। सन्त ज्ञानेश्वर के अनुयायियों में नामदेव, जानी, नरकरी, चोखामाला, सेवा, गोरा, सावन्त, भागू आदि समाज के विभिन्न वर्गों से आए थे। इन निर्गुण भक्त कवियों का जनसाधारण पर व्यापक असर हुआ। समाज में उनकी प्रतिष्ठा इतनी तेजी से बढ़ने लगी कि वह वर्ग जो प्रारम्भ में उनका उपहास उड़ाता था, उनकी राह में नई–नई अड़चनें प्रस्तुत करता था, बदले समय में वह भी भक्ति–परम्परा से जुड़ने लगा। इससे आन्दोलन की प्रतिष्ठा को बल मिला। मगर समाज के उच्च वर्गों से आए अधिकांश भक्त–कवि अपनी वर्गीय निष्ठा से मुक्त नहीं हो पाए थे। भक्ति आन्दोलन की लोकव्याप्ति और जनसाधारण पर उसकी पकड़ का लाभ उठाते हुए, उन कवियों ने धीरे–धीरे अपने आराध्य का स्थूलीकरण करना आरम्भ कर दिया। भक्ति और समर्पण के नाम पर अपने आराध्य का नख–शिख गुणगान करते हुए उन्होंने अपनी सारी प्रतिभा उसके शृंगारिक वर्णन को रसमय और विलासितापूर्ण बनाने पर लगा दी। तुलसी जैसे सन्त कवियों ने अपने आराध्य की चारित्रिक कमजोरियों को

---

[16] कबीर के समसामयिक सन्त रैदास चमार जाति के थे। वर्णाश्रम धर्म को समूल नष्ट करने का संकल्प, कुल और जाति की श्रेष्ठता की मिथ्या सिद्धि सन्त रैदास द्वारा अपनाए गये समन्वयवादी मानवधर्म का ही एक अंग है जिसे उन्होंने मानवतावादी समाज के रूप में संकल्पित किया था– 'जन्म जात मत पूछिये, का जात अरू पात। रविदास पूत सभ प्रभ के, कोउ नहिं जात कुजात।।'

[17] महाराष्ट्र के सन्त ज्ञानेश्वर के माता–पिता को सामाजिक बहिष्कार के कारण प्रयाग की त्रिवेणी में डूबकर प्राण त्यागना पड़ा था। कृष्णभक्त योगी ज्ञानेश्वर ने भगवद्गीता पर ज्ञानेश्वरी' नामक टीका लिखी जो मराठी भाषा का अद्वितीय ग्रन्थ है। 10,000 पद्यों में लिखा गया यह ग्रन्थ अद्वैत–वादी रचना है, जो योग पर भी बल देती है। सन्त ज्ञानेश्वर के रचित कुछ अन्य ग्रन्थ हैं– 'हरिपाठ' 'अमृतानुभव', 'चांगदेवपासष्टी', 'योगवसिष्ठ टीका आदि। इनकी मृत्यु 21 वर्ष की आयु में 1296 ई. में हुई।

नजरंदाज कर, सिर्फ उसके महिमामण्डन पर ध्यान दिया। उनका दासभाव धार्मिक पाखण्डियों और सामन्तों के लिए यथास्थिति बनाए रखने में सहायक सिद्ध हुआ। इससे भक्तिगीतों में सामन्ती चरित्रों का उभरना स्वाभाविक था। इसके परिणामस्वरूप भक्ति आन्दोलन का क्रान्तिकारी स्वरूप धूमिल पड़ता चला गया, जिसकी नींव सन्त ज्ञानेश्वर, रविदास, कबीर आदि सन्तकवियों ने की थी, और आगे चलकर गुरु नानकदेव ने जिसके आधार पर स्वतन्त्रधर्म की स्थापना की।

कालान्तर में भक्ति–आन्दोलन दो हिस्सों में बंटता गया। एक वर्ग था जो परमात्मा को निर्गुण मानकर उसकी आराधना करने में विश्वास रखता था। दूसरे को उसका साकार रूप पसन्द था। तुलसी, सूर, मीरा, हरिदास, दादू आदि अधिकांश सन्तों ने परमात्मा के सगुण और साकार रूप का गुणगान किया। भक्तिमार्गी सन्तों में रामानन्द, तुलसी आदि ने राम को अपना आराध्यदेव माना तो मीरा, सूर, हरिदास आदि की भक्ति कृष्णप्रेम के रूप में प्रकट हुई। सामाजिक वर्ण–विभाजन का प्रभाव यहाँ भी देखने को मिलता है। सगुण भक्ति के प्रमुख उपासकों में से अधिकांश उस वर्ग से सम्बद्ध थे, जिन्हें तात्कालिक समाज–व्यवस्था का लाभ मिला था। सूर, तुलसी, मीरा आदि समाज के कथित उच्च वर्गों से आए थे, जबकि निरगुनियाँ गाने वाले सन्त–कवियों में से अधिकांश समाज के उस वर्ग से आए थे, जो अपने श्रम–कौशल के आधार पर संघर्षपूर्ण जीवन जीता आया था। सन्त ज्ञानेश्वर के शिष्यों में नामदेव दर्जी, नरकरी सुनार, चोखामाला महार, सेवा नाई, गोरा कुम्हार, सावन्त माली तथा भागू मुहारियन की सन्तान थे। जानी नामदेव के सेवादार थे, जिन्होंने अपने गुरु के सान्निध्य में रहकर तत्वज्ञान प्राप्त किया था। इसी परम्परा में दादू दयाल, पल्टु, नाभादास, मीराबाई, सहजो, चरणदास आदि अनेक सन्तों ने, अलग–अलग समय में, प्रेम और भक्ति का सन्देष देश के कोने–कोने तक पहुँचाने का काम किया। उन्होंने अनेक जाति–वर्गों में बंटे समाज में समानता एवं समरसता के विचार को आगे बढ़ाया और जोर देकर मानव–मानव के बीच मौजूद ऊँच–नीच की दीवार को ढहाने का क्रानितकारी प्रयास किया। निगुर्णपन्थी, प्रेममार्गी विचारधारा पर सूफी फकीरों का भी प्रभाव था।

पन्द्रहवी और सोहलवीं शताब्दी में भारत पर विदेशी शासकों का राज्य पूरी तरह स्थापित हो चुका था। हिन्दू राजे–महाराजे अपनी कान्ति खो चुके थे। उनमें से अधिकांश विधर्मी शासकों की सेवा में ही खुद को धन्य महसूस कर रहे थे। भारतीय जनसमाज खुद को अपने शासकों की करतूतों से आहत और अपमानित अनुभव कर रहा था, यही उसकी कुण्ठा और क्षोभ का कारण बना था। शासकवर्ग की पराजित मानसिकता और हताश जनसमाज के बीच प्रेरणा की तलाश के लिए सन्तकवियों का पुरातन भारतीय संस्कृति और इतिहास की शरण में जाना स्वाभाविक ही था।

शंकराचार्य के अद्वैतमत और मायावाद के विरोधी रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में आनेवाले रामानन्द[18] ने (पन्द्रहवीं सदी) उत्तर भारत में रामभक्ति का प्रचार किया। भक्ति के क्षेत्र में रामानन्द ने ऊँचनीच का भेदभाव मिटाने पर विशेष बल दिया। राम के सगुण और निर्गुण दो रूपों को माननेवाले दो भक्तों– कबीर और तुलसी को इन्होंने प्रभावित किया। विष्णुस्वामी के शुद्धाद्वैत मत का आधार लेकर इसी समय बल्लभाचार्य ने अपना पुष्टिमार्ग[19] चलाया।

[18] रामानन्द के राम ब्रह्म के स्थानापन्न थे जो राक्षसों का विनाश और अपनी लीला का विस्तार करने के लिए संसार में अवतीर्ण होते हैं।

[19] पुराणसम्मत कृष्णचरित्।

उन्होंने शांकर मत के विरुद्ध ब्रह्म के सगुण रूप को ही वास्तविक कहा। उनके मत से यह संसार मिथ्या या माया का प्रसार नहीं है बल्कि ब्रह्म का ही प्रसार है, अतः सत्य है। उन्होंने कृष्ण को ब्रह्म का अवतार माना और उसकी प्राप्ति के लिए भक्त का पूर्ण आत्मसमर्पण आवश्यक बतलाया। भगवान् के अनुग्रह या पुष्टि के द्वारा ही भक्ति सुलभ हो सकती है। इस प्रवृत्ति से सगुण–भक्ति को और बल मिला। परिणामस्वरूप निर्गुण भक्ति की धारा पीछे छूटने लगी और सगुण तत्व प्रधान होता चला गया। भारतीय महाकाव्यों[20] के प्रमुख नायक, राम और कृष्ण को अपना उद्धारक मानते हुए भक्त कवियों ने उनकी प्रार्थना के गीत रचने शुरू कर दिए।

राम और कृष्ण को अपना आराध्य मानने वाले सन्तकवियों की सामाजिक पृष्ठभूमि में भी अन्तर था। इसके कारण भी इन दोनों के जीवन–चरित्र में खोजे जा सकते हैं। अपने जीवन में पितृ–भक्ति का आदर्श उदाहरण प्रस्तुत करने वाले राम ने रावण पर विजय प्राप्तकर आर्य–संस्कृति का डंका समुद्र पार लंका में बजाया, मगर अयोध्या लौटने पर निर्दोश सीता का निष्कासन और शम्बूक की हत्या उनके चरित्र पर लांछन जैसे हैं। दूसरी ओर कृष्ण का जीवन सोलह कला–सम्पूर्ण, राम के व्यक्तित्व की अपेक्षा अधिक लालित्य–ललाम है। वे गोपियों के अंतरंग सखा के रूप में उनके साथ–साथ नृत्य करते हैं, बांसुरी की तान पर उन्हें नचाने की लीला करते हैं, तो संकट के समय गोवर्धन पर्वत को उठाकर सम्पूर्ण ब्रजमण्डल की रक्षा भी करते हैं। यही नहीं, युद्ध–भूमि में युद्ध की विभीषिका और भीषण तनाव के बीच भी वे अपने धैर्य को बनाए रखते हैं, और विकट परिस्थितियों के बीच गीता का उपदेश देते हैं। युद्धस्थल पर अपने सखा अर्जुन को दिया गया निष्काम कर्म का उनका उपदेश अनूठा है, जिसमें वे विषम परिस्थितियों में अपनी मानसिक एकाग्रता कायम रखने का उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं। कृष्ण का यही गुण उन्हें असाधारण बनाते हुए ईश्वरीय गरिमा से विभूषित करता है। वे महाभारत के युद्ध में आततायी राजाओं के विनाश के लिए कूटनीति और छल–प्रपंच का भी सहारा लेते हैं, बावजूद इसके कोई उनके देवत्व पर आँच नहीं आती। बल्कि इससे जनसामान्य की निगाह में उनका चरित्र और भी ऊँचा उठ जाता है। इसलिए भक्ति की प्रेममार्गी चिन्तनधारा में कृष्ण सर्वदा वरेण्य हैं। जहाँ राजा राम का उद्देश्य अपने गुरु वशिष्ट की आज्ञा का अक्षरशः पालन करना ब्राह्मणवाद से ग्रस्त तत्कालीन समाज में यथास्थिति बनाए रखने में मदद करता है, वहीं कृष्ण जनसाधारण के कल्याण के लिए देवराज इन्द्र की चुनौती स्वीकारने में भी पीछे नहीं रहते। इसलिए यह अकारण नहीं कि राम का व्यक्तित्व समाज में यथास्थिति के पक्षधरों को अपने वर्गीय हितों के अनुकूल जान पड़ता था। शायद इसीलिए राम को अपना आराध्य मानने वाले लगभग सभी सन्त–कवि उच्च जातिवर्ग से सम्बद्ध थे, जो एक तरह से भक्ति आन्दोलन के क्रान्तिकारी चरित्र को दूषित करने का प्रयास कर रहे थे। दूसरी ओर कृष्ण–भक्तों में समाज के सभी वर्गों के सन्तकवि सम्मिलित थे। शायद इसीलिए हिन्दी भक्ति–काव्य में राम चरित्र को लेकर कल्पनाशीलता कहीं वैसे उत्साहित नहीं दिखती, जैसे कृष्ण के चरित्र को लेकर दिखती है। तब यह अकारण नहीं कि 'मुसलमान हरिजन' ने जब भक्ति–काव्य लिखा तो प्रायः कृष्ण चरित्र को केन्द्र में रखकर।

भक्त कवियों ने ऊँच–नीच और साम्प्रदायिकता को मिटाकर समाज में समरसता लाने के लिए बहुत काम किया है, लेकिन यह काम जितना निर्गुण भक्त कवियों ने किया, सगुण उपासक उतना नहीं कर सके। इसका कारण

[20] तुलसीदासकृत रामचरित मानस और सूरदासकृत सूरसागर।

है कि अधिकांश निर्गुण उपासक समाज के पिछड़े वर्ग से सम्बन्धित थे, जिन्होंने सामाजिक ऊँच–नीच और तज्जनित उत्पीड़न को सहा था। इसलिए उनकी कविता में मुक्ति की छटपटाहट थी। उसमें सामाजिक बदलाव का स्वर मौजूद था। जबकि तुलसी, सूर, हरिदास जैसे सगुण उपासकों ने अपने आराध्य की जिस रूप में परिकल्पना की, वह सामन्तवाद से प्रेरित होने के कारण सामाजिक यथास्थिति का पोषण करती थी। उनके आराध्य सत्ताकेंद्रों पर विराजमान, समाज के कथित उच्च एवं शक्तिशाली वर्गों के प्रतिनिधि थे। इसका परिणाम यह हुआ कि समाज में जातीय विभाजन को चाहे–अनचाहे मान्यता मिलने लगी, जिससे सामाजिक समरसता का वह सपना जो निर्गुण भक्त–कवियों ने देखा था, वह शनैः–शनैः धूमिल होने गया। इस प्रकार निचली जातियों के बीच से पैदा होने वाले सन्तों के द्वारा निर्गुण भक्ति आन्दोलन एक क्रान्तिकारी आन्दोलन के रूप में पैदा हुआ। किन्तु आगे चलकर ऊँची जाति वालों ने इसकी शक्ति को पहचानकर अपनाया और उसको अपने (सामन्ती) विचारों के अनुरूप ढालकर उसको राम और कृष्ण की सगुण भक्ति का रूप दे डाला। जिससे उसके क्रान्तिकारी दाँत उखड़ गए। इस प्रक्रिया में कृष्ण–भक्ति में तो कुछ क्रान्तिकारी तत्व बचे रह गए, लेकिन राम–भक्ति में जाकर तो उसके रहे सहे तत्व भी गायब हो गए। शायद इसलिए कि कृष्ण का जीवन और व्यवहार लोकतान्त्रिक अवधारणाओं के अपेक्षाकृत अधिक करीब है। इसके बावजूद जीवन और समाज में भक्ति की महत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता। यह मानव मन के विकारों और सामाजिक अन्तर्विरोधों का शमन कर मनुष्य को अहंकारमुक्त करने का काम करती है, जो सामाजिक समरसता एवं एकता के लिए अनिवार्य हैं।

**********